



द्रव्यदृष्टि प्रकाशमें से ज्ञातादृष्टापना (भेदज्ञान)
सम्बन्धित पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी के
चयन किये गये वचनामृत

(शुभाशुभ परिणाम होनेपर अन्तरंग स्थिति बताते हुए कहा :) अशुभपरिणाम के काल में इस ओर का (स्वसन्मुखता के पुरुषार्थ का) झुकाव मन्द होता है। शुभपरिणाम के काल में इस ओर का थोड़ा ज्यादा (पुरुषार्थ का) झुकाव होता है। (परन्तु दोनों प्रकार के परिणामों के काल में) दृष्टि का झुकाव तो वैसा का वैसा ही है। लड़ाई के काल में बाहर लड़ाई की क्रिया होती है और राग में अशुभराग की क्रिया होती है; पर 'मैं तो मेरे में ही अचल रहता हूँ, मेरे में तो उस समय भी राग की क्रिया का अभाव है। ३४.

(भेदज्ञान का स्वरूप :) हर समय विकल्प से भेदज्ञान करना नहीं पड़ता, वो तो सहजरूप से हो जाता है। ३६.

(ज्ञाता-दृष्टा का स्वरूप बताते हुए कहा :) निर्विकल्प अनुभव होते ही ज्ञातादृष्टा हो सकता है। (सिर्फ) ऐसे विकल्प से ज्ञाता मानकर, होनेवाला था सो हुआ,—ऐसा मानकर (-ऐसे) समाधान में (जो) सुख मानते हैं; वह (सुख) तो जैसा : अघोरी मांस खाने में, सूअर विष्टा खाने में, पतंगा दीपक में सुख मानता है,—वैसा है। निर्विकल्प अनुभव बिना धारणा में ठीक मानना, सुख मानना, यह तो कल्पना मात्र है; वास्तविक सुख नहीं। १११.

अपने द्रव्य में एकत्व किए बिना, राग से और शरीर से भिन्नता नहीं हो सकती; भले ही भिन्न है.. भिन्न है.. ऐसा कहे। लेकिन अपने द्रव्य में एकत्व होते ही सहज भिन्नता हो जाती है, विकल्प उठाना नहीं पड़ता; सहज ही भिन्नता रहती है। १५२.

पहले विकल्प उठे और बाद में समाधान करे कि 'ये स्वतंत्र है' (तो यह यथार्थ नहीं)। विकल्प के साथ ही साथ उसी क्षण उससे भिन्नता होनी चाहिए। १८४.

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४८: अंक-२९४, वर्ष-२४, जून-२०२२

आषाढ़ कृष्ण १४, रविवार, दि. १७-७-१९६६, योगसार पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, गाथा-९१, प्रवचन-३७

योगसार चलता है, उसकी ९१ वीं गाथा।
'आत्मा में स्थिरता संवर व निर्जरा का कारण
है -' यह उसका शीर्षक है।

अजरू अमरू गुण-गुण-णिलउ जहिं अप्पा
थिरू ठाइ।

सो कम्मोहिं ण बंधियउ संचिय-पुव्व विलाइ।।
९१।।

देखो! क्या कहते हैं? 'जहाँ अजर-अमर
गुणों का निधान...' ऐसा शब्द प्रयोग किया है!
यह आत्मा अजर-अमर है। अजर-अमर... उसे
कभी जीर्णता-वृद्धावस्था लागू नहीं पड़ती है। शाश्वत्
ध्रुव सत् तत्त्व अकृत्रिम - नहीं किया हुआ - शाश्वत्
स्वभाव की मूर्ति - ऐसा आत्मपिण्ड, वह अजर है,
उसे कोई जीर्णता लागू नहीं पड़ती, उसके गुण को भी
जीर्णता लागू नहीं पड़ती। वह तो गुणी और गुण सब
एक ही चीज है न! समझ में आया?

भगवान आत्मा अजर अर्थात् उसमें जीर्णता
नहीं और उसमें मरण अर्थात् अभाव नहीं। वह गुण
का पिण्ड प्रभु, महासत्ता चैतन्य सत्स्वरूप अनादि-
अनन्त, अजन्म और अमरण... उसे जन्म भी नहीं
और मरण भी नहीं - ऐसा शाश्वत् तत्त्व है। ऐसा
'गुणों का निधान आत्मा स्थिर हो जाता है।'

जब ऐसे आत्मा में स्थिर (हो जाता है), अनादि से
पुण्य-पाप के विकल्प और राग में स्थिर होने से
बन्धन है। राग-द्वेष, पुण्य-पाप के भाव में स्थिर होने
से बन्धन है और आत्मा, राग-द्वेष विकल्परहित
आत्मा है, उसमें स्थिर होने से, पहले श्रद्धा में
पूर्णानन्द की प्रतीति अनुभव में करके, फिर स्थिर
होने से संवर-निर्जरा होते हैं। संवर-निर्जरा की क्रिया-
कर्म का रुकना और कर्म का खिरना, उसकी क्रिया
अपने शुद्ध स्वरूप में स्थिर होना, वह एक ही क्रिया
है। कहां, समझ में आया? स्थिर हो जाना।

'वहाँ वह आत्मा नवीन कर्मों से नहीं
बंधता है...' क्योंकि अपना स्वरूप सम्यग्दर्शन में
शुद्ध चैतन्य की दृष्टि की तो शुद्ध चैतन्य की स्थिर
होने से नवीन कर्म बिल्कुल नहीं बंधते हैं 'और पूर्व
के संचित कर्मों का क्षय करता है।' अर्थात्
पुराने कर्म क्षय हो जाते हैं। कर्ता है - ऐसा कहा जाता
है। 'पुव्व संचिय विलाइ।' पूर्व के संचय का नाश
हो जाता है। पूर्व के संचय का नाश हो जाता है।
उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों ले लिये। क्या कहा?

भगवान आत्मा ध्रुव अजर-अमर है, उसमें
स्थिर होना वह, उत्पाद-पर्याय निर्मल हुई और पूर्व
की अशुद्ध अवस्था है, उसका नाश होता है। यहाँ

कर्म की अपेक्षा ली है, अशुद्ध अवस्था का व्यय होता है, शुद्ध अवस्था की उत्पत्ति होती है, और जिसमें स्थिर है वह तो ध्रुव कायम है। समझ में आया? यह धार्मिक क्रिया!

जैनधर्म की यह क्रिया। ध्रुव स्वभाव चैतन्यबिम्ब, महासत्ता में रुचि, परिणति करके स्थिर होना ही संवर, निर्जरा की जैनमार्ग की धार्मिक क्रिया है। मंगलदासभाई! है?

मुमुक्षु : एक में आ गया है, शास्त्र में तो सब।

उत्तर : देखो न! शास्त्र का सब कथन इसके लिए है। शास्त्र में लाख बात हो, बात तो समझने के लिए सब की है या नहीं.... वस्तु यह।

चैतन्य भगवान में अनन्त गुण शाश्वत पड़े हैं। शाश्वत् और वस्तु शाश्वत् है। शक्ति - स्वभाव-गुण शाश्वत्। उसमें स्थिर, पहले दृष्टि करके, दृष्टि उसमें लगाना, उसमें रुचि हुई और स्वरूपाचरण भी हुआ, फिर विशेष स्थिर होना चारित्र है। उससे संवर और निर्जरा उत्पन्न होती है और आस्रव तथा बन्ध का व्यय होता है। ध्रुव में लक्ष्य और रुचि करने से तथा स्थिर होने से संवर-निर्जरा की पर्याय का उत्पन्न होना और अशुद्ध आस्रव-बन्ध का नाश होना (होता है)। अजीवतत्त्व तो ऐसा है कि यहाँ आस्रव का नाश होता है तो कर्म की पर्याय भी स्वयं के कारण पलट जाती है। कहो, समझ में आया?

‘यह आत्मा निश्चय से जन्म, जरा, मरणरहित अविनाशी है...’ आत्मा जन्मता है? आत्मा जन्मेगा? कौन जन्मता है? इस शरीर के संयोग को लोग जन्म कहते हैं। शरीर के संयोग को जन्म कहते हैं। यह शरीर, शरीर... आत्मा में जन्म कहाँ है? आत्मा जन्में अर्थात् नया उत्पन्न होता है?

आत्मा मरे अर्थात् नाश होता है? जरा, मरण, जन्म से रहित भगवान आत्मा अविनाशी ‘सामान्य और विशेष गुणों का समूह है।’ लो! आत्मा में अस्तित्व,

वस्तुत्व आदि सामान्यगुण अनादि से हैं। सामान्य का अर्थ, जो गुण दूसरे द्रव्य में भी है (और) स्वयं में भी है, उन्हें सामान्य कहते हैं और अपने में है तथा दूसरों में नहीं - ऐसे विशेष गुण आत्मा में है। ज्ञान, दर्शन, आनन्द, चारित्र... कहो समझ में आया? इन विशेष-गुणों का समूह है और यह विशेषगुण

तथा सामान्यगुण जो त्रिकाल है, उनमें एकाग्र होने से सामान्य में से विशेष पर्याय होती है, विशेष पर्याय होती है, वह संवर-निर्जरा है। समझ में आया?

मिथ्याश्रद्धा में सामान्य का विशेष में अज्ञान और राग-द्वेषरूप परिणमन था, भगवान आत्मा सामान्य और विशेषगुण का पिण्ड होने पर भी, जब तक राग, पुण्य और निमित्त पर रुचि थी तो मिथ्यात्व और राग-द्वेष की उत्पत्ति होती थी। जब भगवान आत्मा सामान्य-विशेषगुण का पिण्ड है, तो उस गुण की दृष्टि गुणी पर गयी तो गुण का विस्तार विशेषपने, निर्मलपर्यायपने प्रगट हुआ। वह निर्मलपने प्रगट हुई, उसका नाम संवर और निर्जरा कहा जाता है। कहो, समझ में आया?

अपने दो, तीन दिन पहले यह अधिकार आ गया है। आत्मा में आनन्दगुण है, आनन्द.. आनन्द... विशेष गुण है, हाँ! दूसरों में नहीं, है। प्रश्न तो किया था, लड़कों ने पूछा था, आदमी को पूछा था, आत्मा में आनन्दगुण है, उस आनन्दगुण की व्याख्या क्या? गुण की व्याख्या तो यह है कि गुण, द्रव्य के सम्पूर्ण भाग में और सम्पूर्ण अवस्थाओं में रहता है।



द्रव्य उसे कहते हैं कि गुण के समूह को द्रव्य कहते हैं। गुण उसे कहते हैं कि द्रव्य के सर्व भाग में अर्थात् क्षेत्र और सर्व अवस्थाओं में अर्थात् दशा। आया था या नहीं? हेमन्त! उस दिन दूसरे लड़के नहीं होंगे। समझ में आया?

अपना आत्मा विशेष गुण-आनन्द, विशेष गुण-चारित्र तो गुण की व्याख्या क्या? गुण तो अपने द्रव्य में सर्व भाग में, सर्व भाग का अर्थ सर्व क्षेत्र में... द्रव्य तो है, तो सर्व क्षेत्र आया। वह गुण सर्व क्षेत्र में है, गुण तो भाव है और सर्व अवस्थाओं में यह पर्याय हुई। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चारों आ गये। यह आनन्दगुण है, वह अपनी पर्याय में प्रत्येक अवस्था में आनन्द है परन्तु जब तक उसे पुण्य-पाप की रुचि की श्रद्धा है, तब तक आनन्दगुण की अवस्था तो है, वह आनन्दगुण की अवस्था दुःखरूप है। चन्दुभाई! क्या कहा, समझ में आया?

आत्मा में आनन्दगुण तो है। त्रिकाल अतीन्द्रिय आनन्द का रस पिण्ड आत्मा है। उस अतीन्द्रिय आनन्दगुण की व्याख्या क्या? गुण सर्व अवस्थाओं में रहता है, गुण सर्व अवस्थाओं में रहे और सर्व क्षेत्र में रहे। सर्व अवस्थाओं में रहे उसका अर्थ क्या हुआ? आनन्दगुण किसी भी पर्याय की हालत में न हो - ऐसा नहीं (होता)। तब (कोई) कहे, संसारी अज्ञानी प्राणी को अभी तो आनन्द नहीं है, तो कहते हैं - राग की एकताबुद्धि करता है तो उस आनन्द की अवस्था वहाँ दुःखरूप है। है, आनन्द की अवस्था। समझ में आया? शशिभाई!

किसी गुण की अवस्था न हो, हालत न हो - ऐसा तीन काल में नहीं होता है। भगवान आत्मा आनन्दगुण सम्पन्न प्रभु की हालत मिथ्या राग-द्वेष की रुचि में है तो आनन्दगुण की हालत, हालत तो है (परन्तु) दुःखरूप है। (यह कहते हैं) आनन्दगुण कहना और फिर हालत दुःखरूप कहना...! आनन्दगुण की अवस्था आनन्दरूप है? वह गुण किसी भी

अवस्था के बिना नहीं रहता, तो उसका अर्थ क्या हुआ? चन्दुभाई! वह आनन्दगुण, गुण का धारक भगवान आत्मा की रुचि होने से, उसकी प्रतीति, भरोसा होने से उस आनन्दगुण की अवस्था आनन्दरूप परिणमित होती है। मुख्यरूप से आनन्द की अवस्था आनन्दरूप परिणमित होती है। गौणरूप से थोड़ा दुःख है परन्तु वह बात गौण है। समझ में आया? है? राग-द्वेष के परिणाम (होते हैं) वह वहाँ चारित्रदोष है और उससे विरुद्ध (परिणमन) हुआ, आनन्द से विरुद्ध (परिणमन हुआ) वह दुःख-आकुलता है। समझ में आया?

'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका' इन लड़कों को आती है या नहीं? भाई, यह छोटे लड़के हैं या नहीं? गुण किसे कहना? आता है न? भाई! गुण उसके द्रव्य अर्थात् वस्तु के प्रत्येक भाग में अर्थात् उसकी प्रत्येक क्षेत्र की स्थिति अवगाहना में गुण व्याप्त होता है, रहता है और वह गुण उसकी प्रत्येक हालत में उपस्थित होता है। अवस्था बिना वह गुण नहीं हो सकता। यह तो जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में लड़कों को सिखावे ऐसी बात है। क्या (कहा)? राजमलजी! समझ में आया?

यह आनन्दगुण... भगवान आत्मा विशेषगुण और सामान्यगुण का समुदाय है - ऐसा आत्मा का अन्तर्मुख होकर विश्वास, रुचि, भरोसा, श्रद्धा का परिणमन हुआ तो आत्मा में जितने गुण हैं, उन समस्त गुणों का अंशरूप व्यक्तपने परिणमन सम्यग्दर्शन के साथ होता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन सम्पूर्ण पूरे द्रव्य की प्रतीति करता है। पूर्ण द्रव्य को.. तो द्रव्य पूर्ण गुणों का पिण्ड है, समस्त गुणों का पिण्ड है, सम्पूर्ण द्रव्य की प्रतीति करने से सम्पूर्ण द्रव्य के जितने गुण हैं, इतने सम्यक्श्रद्धा में से जहाँ पर्याय प्रगट हुई तो अनन्त गुण की भी आंशिक प्रगट दशा होती है। आहा..हा..! ऐसी सीधी-सादी बात में भी गड़बड़ करते हैं, लो! समझ में आया? यहाँ यह स्वयं

कहेंगे, हाँ! ऐसी सादी बात है, भगवान! सीधी बात है।

आत्मा प्रसिद्ध है, प्रगट है। वस्तु है वह प्रगट है या नहीं? या अप्रगट-ढँक गई है? द्रव्य ढँक गया है? समझ में आया? प्रगट तत्त्व है, प्रगट तत्त्व है। प्रगट अर्थात् है। है वह सत्तावाला तत्त्व है। सत् वह सत्तावाला, अस्तित्ववाला, सत् रूप, सत्त्वरूप है तो उसके गुण, सत् के गुण शाश्वत है। जैसे, सत् शाश्वत है, इसी प्रकार गुण भी शाश्वत् है। उसकी प्रत्येक अवस्था में गुण नहीं रहे तो कहाँ जाएँ? चिमनभाई! आहा..हा..!

यहाँ तो पहले प्रश्न दिमाग में उठा था। 'अजर, अमर गुणों का निधान...' ऐसा आया था न? मैंने कहा, यह एक बात ठीक है। है तो आत्मा, संस्कृतवाले को पूछना चाहिए न? पण्डित को पूछा। समझ में आया? यह भगवान आत्मा तो अजर-अमर है तो इसके गुण भी अजर-अमर हैं और गुण अजर-अमर है तो आत्मा भी अजर-अमर है। आहा..हा..! बात यह है कि इसने विश्वास की धार पर चढ़ाई नहीं है। 'सराणे' समझते हो? यह छुरी साफ नहीं करते? धार लगाते हैं। इसी प्रकार भगवान आत्मा स्वयं की श्रद्धा के भरोसे की धार में चढ़ाया नहीं। आत्मा को भरोसे की धार में चढ़ावे तो एक सैकण्ड के असंख्य भाग में जितने सामान्य, विशेष गुण का पिण्ड है, उतने समस्त गुणों का एक अंश परिणमन व्यक्त-प्रगट हो जाता है। आहा..हा..! कहो, समझ में आया कुछ?

'कर्मों से और शरीर से भिन्न...' भगवान आत्मा.. कर्म तो जड़ अजीवतत्त्व है। शरीर भी अजीवतत्त्व है, भिन्न है। 'जब अपने आत्मा को देखा जाता है...' भिन्न है - ऐसा देखा जाता है। समझ में आया? यह तो कल कहा था न? भगवान ने आत्मा को कैसा देखा है? मलिन पर्याय दिखे तो मलिन पर्याय तो आस्रवतत्त्व की है। वास्तव में वह

आत्मतत्त्व है ही नहीं, वह आस्रवतत्त्व है। आहा..हा..! आत्मा भगवान है। सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ परमेश्वर ने ऐसा आत्मा देखा-जाना है। ओहो..! वह तो पूर्णानन्द प्रभु है। रागादि, आस्रवतत्त्व में जाते हैं; कर्म, शरीर अजीवतत्त्व में जाते हैं - ऐसा सामान्य-विशेषगुण का पिण्ड प्रभु... कहते हैं कि शरीर और कर्मों से भिन्न देखने में आवे तो वह शुद्ध ही दिखता है।

मुमुक्षु : कब?

उत्तर : ऐसा है। अभी, कब क्या? नवरंगभाई! परन्तु शुद्ध है, यह तो सिद्ध किया। जिसे आत्मा कहते हैं, ज्ञायकभाव कहते हैं, उसमें आस्रव कहाँ आया? पर्यायतत्त्व जो आस्रव है, वह तो ज्ञायकभाव तत्त्व से भिन्न है। है? आहा..हा..! शरीर, कर्म तो अजीवतत्त्व अत्यन्त भिन्न है, वह तो अत्यन्त भिन्न है। यह आस्रव तो एक समय में अनित्य तादात्म्यरूप दिखता है परन्तु नित्य तादात्म्य स्वभाव की अपेक्षा से वह पर्याय भी संयोगीभाव-परद्रव्य ही है। आहा..हा..! समझ में आया? नित्य तादात्म्यस्वभाव, ज्ञान-आनन्द आदि तादात्म्यस्वभाव से देखने से तो, जो अनित्य एक समय की (पर्याय) तादात्म्य है, वह नित्य त्रिकालस्वभाव को देखने से वह भाव भी संयोग में जाता है। नवरंगभाई! यह कर्ता-कर्म में आया है। पहली ६९-७० गाथा में (आया है)। ६९-७० में उसे संयोगीभाव कहा है। संस्कृत टीका, अमृतचन्द्राचार्यदेव (ने कहा है)। क्योंकि वस्तुस्वभाव नहीं है। समझ में आया? जैसा है, वैसा देखने से दृष्टि शुद्ध को देखती है। आहा...हा...! बात भी..... यह आत्मा कैसा है? इसका इसे पता नहीं है। इसकी चीज की खबर बिना इसे धर्म करना है। लो! क्या करना? धर्म का पिण्ड तो यह है। धर्म शब्द से स्वभाव। स्वभाव का पिण्ड धर्मी है। अब स्वभावपिण्ड धर्मी है, उसकी दृष्टि और उसका ज्ञान किये बिना धर्म करना है। कहाँ से करना? समझ में आया? (प्रवचन का शेष अंश अगले अंक में...)



पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार
ग्रंथके वचनामृत-२६३ पर भाववाही
प्रवचन, दि. ३-६-१९८३, प्रवचन
क्रमांक-११९ (विषय : मार्गदर्शन)

प्रश्न :- आत्मा परमें तो कोई हेर-फेर नहीं कर
सकता-यह तो ठीक है पर क्या स्वयंकी पर्यायोंमें भी
हेर-फेर करना उसके अधीन नहीं?

उत्तर :- अरे भाई! जहाँ द्रव्यका निर्णय किया
वहाँ वर्तमान पर्याय स्वयं ही द्रव्यमें समाहित हो गई

तो फिर तुझे किसे बदलना है? जब पर्याय द्रव्यमें अंतर्मुख हो गई तब यह पर्याय क्रमशः
निर्मलरूप ही परिणत होती रहती है और शान्ति बढ़ती जाती है। इस प्रकार पर्याय ही
जब द्रव्यमें अन्तर्मग्न हो गई तब उसे बदलनेकी बात कैसी? वह पर्याय स्वयं ही द्रव्यके
आधीन आ गई है।

पर्याय आयेगी ही कहाँसे?-द्रव्यमेंसे-अतः जब सम्पूर्ण द्रव्यको ही वशमें कर लिया
है, (श्रद्धा-ज्ञानमें स्वीकार कर लिया) तब पर्याय वशमें आ ही गई; तात्पर्य यह है कि
द्रव्यके आश्रयसे पर्याय सम्यक् और निर्मल रूपसे ही परिणमित होने लगी। जब स्वभाव
निर्णित हुआ तब ही मिथ्याज्ञानका नाश होकर सम्यक्ज्ञान हुआ, मिथ्याश्रद्धा पलट कर
सम्यग्दर्शन हुआ। इस प्रकार पर्याय निर्मल होने लगी-यह भी वस्तुका धर्म है। वस्तुस्वभाव
बदला नहीं और पर्यायोंकी क्रम-धारा टूटी नहीं। द्रव्यके ऐसे-ऐसे स्वभावकी स्वीकृतिमें
ही पर्यायकी निर्मल धाराका जन्म हुआ और ज्ञानादिरूप अनन्त पुरुषार्थ उसीमें समाविष्ट
है।

स्व या पर-जब किसी द्रव्य, किसी गुण व किसी पर्यायममें हेर-फेर करनेकी
बुद्धि न रही तब ज्ञान-ज्ञानमें ही जम गया, अर्थात् मात्र वीतरागी ज्ञाता-भाव ही रह
गया-ऐसे साधकको अल्पकालमें मुक्ति होगी ही। बस! ज्ञानमें ज्ञातादृष्टा रूप रहना-यही
स्वरूप है-यही सबका सार है। यह अन्तर रहस्य जिसके खयालमें न आए उसे कहीं न
कहीं, परमें अथवा पर्यायमें-हेर-फेर करनेकी बुद्धि बनी रहती है। ज्ञाता-भावसे च्युत
होकर कहीं भी हेर-फेर करनेकी बुद्धि मिथ्याबुद्धि है। २६३.

(२०:०० मिनटसे...)

जो अनंतानुबंधी कषाय के परिणाम संसारी जीव को होते हैं ऐसे सम्यग्ज्ञानी को नहीं होते, हो सकते भी नहीं, हो ही नहीं सकते। उसकी अशक्ति है, ऐसा कार्य करने के लिये वह अशक्त है। जैसे कोई आर्य सज्जन मनुष्य को ऐसा कहे कि आप जो भी मागो वह देंगे, फलाने का खून कर दो। आप को हथियार, साधन, व्यवस्था सब देंगे। सिर्फ आप को खून करना है। और वह खून करो तो भी आप को कोई प्रकार की दिक्कत एवं तकलीफ नहीं आये ऐसी व्यवस्था भी कर देंगे। ठीक! करेगा? कि वह परिणाम उससे हो नहीं सकते। हो नहीं सकते ऐसा कहना है। परिणाम योग्यता के बाहर जा ही नहीं सकते। यह एक वस्तुव्यवस्था है। सविकारी या अविकारी परिणाम योग्यता के बाहर नहीं हो सकते। योग्यता समय-समय की है, योग्यता है वह समय-समय की है। प्रति समय जिस पदार्थ की जैसी योग्यता है वह पदार्थ की उसी सीमा में, उसी मर्यादा में परिणाम होना, इससे अतिरिक्त दूसरा होना अशक्य है। परिणाम के विषय में यह वस्तुस्थिति है।

यहाँ कहते हैं कि जो ज्ञानी हैं, धर्मी हैं, जागृत हैं, सम्यग्ज्ञानरूपी जिसके पास लगाम है उसके कषाय के परिणाम भी मर्यादित होते हैं। इसीलिये अविरत सम्यग्दृष्टि को भी ४७ प्रकृति का बंध हो ऐसे परिणाम नहीं होते, होते ही नहीं। इसलिये उसे बंध नहीं है ऐसा कहने में आता है।

आर्तध्यान और रौद्रध्यान की संभावना है। आर्तध्यान तो चलता ही है। धर्मध्यान और आर्तध्यान, दो ध्यान वर्तते हैं। ध्यान के परिणाम में दो टुकड़े हो गये। एक धर्मध्यान आंशिकरूप से है और आंशिकरूप से आर्तध्यान सविकल्पदशा में है। कभीकभार चौथे-पाँचवें गुणस्थान तक रौद्रध्यान भी होता है। फिर भी उस ध्यान से जो गति के परिणाम तिर्यचगति और नरकगति उसका बंध सम्यग्दृष्टि को नहीं पड़ता। ऐसा नाम, आयुष्य, गोत्र उसे नहीं बँधता। अघाति है न? चारों अघाति नहीं बँधते। ऐसी अशाता, ऐसा नाम, ऐसा गोत्र और

ऐसा आयुष्य। इन चारों का बंध उसे नहीं पड़ता कि जो तिर्यच और नरक में होता है। अन्यथा आर्तध्यान का वह फल है और रौद्रध्यान का वह फल है। फिर भी वह फल उसे नहीं आता। क्योंकि उसका जो रस है वह अपूर्व चैतन्यरस है, वह उसका रस है और बाकी के परिणाम में उसका रस नहीं है। रुखे परिणाम हैं। इसलिये ऐसे नीरस परिणाम में निद्धत और निकाचीत बंध नहीं पड़ता। यह उसकी सहज स्थिति है।

इस दृष्टि से, 'पर्याय स्वयं ही द्रव्यके आधीन आ गई है।' पर्याय को आधीन रखने का राग और इच्छा किये बिना भी, किये सिवा भी एक उपलक्षण से देखें तो पर्याय उसके अधीन हो गई है। प्रतिक्षण उसका कषाय कम होता जायेगा ऐसी पर्याय की स्थिति है और प्रतिक्षण उसकी शुद्धता बढ़ती जायेगी ऐसी उसकी स्थिति है। इसलिये प्रतिक्षण मोक्ष प्रति मोक्षमार्ग में अनन्य भाव से वह आगे बढ़ रहा है। उसे पर्याय में फेरफार करने का फिर सवाल नहीं रहता।

मुमुक्षु :- ...

पूज्य भाईश्री :- यहाँ माने सम्यग्ज्ञानी को? वह तो बढ़ती ही जाती है। वैसी की वैसी नहीं रहती, अपितु बढ़ती ही जाती है।

मुमुक्षु :- ...

पूज्य भाईश्री :- आवरित होने का संभव है, परन्तु ऐसी शंका नहीं होती। प्रवर्तमान परिणाम के कारण उसे शंका नहीं होती। जैसे कि गाड़ी चलानेवाले को अकस्मात होने की संभावना है। परन्तु वह निश्चितरूप से ही चलाता है, जब चलता है तब। या शंका रखकर चलाता है? यदि शंका हो तो चलायेगा नहीं। उसे आत्म विश्वास नहीं है ऐसा कहना होगा। आत्मविश्वास के साथ वह कार्य चलता है। और प्रतिसमय जो बढ़ता हुआ निर्मल परिणाम है, उसमें उसे किसको पूछने जाना है कि अब इसमें क्या होनेवाला है? उसे वह शंका एवं अविश्वास उत्पन्न नहीं होता। (शुद्धता) बढ़ती ही जाती है। और पूर्ण हो जाऊँगा, अल्पकाल में पूर्ण हो जाऊँगा ऐसी उसे निःशंक, मोक्ष की भी निःशंक

प्रतीति है।

जिसे बंध-मोक्ष के भावरहित स्वद्रव्य की निःशंक प्रतीति है उसे पर्याय के मोक्ष की भी निःशंक प्रतीति है। अतः ऐसी ही परिस्थिति चालू नहीं, अपितु प्रतिसमय बढ़ती जाती है। फिर वैसी की वैसी इसका प्रश्न नहीं रहता। बढ़ती ही जाती है... बढ़ती ही जाती है.. बढ़ती ही जाती है। उसकी गति आगे ही बढ़ती जाती है। मोक्ष प्रति गति हो जाती है।

मुमुक्षु :- क्षायिक समकित हो उसको न?

पूज्य भाईश्री :- क्षायिक न हो और क्षयोपशम हो तो भी।

मुमुक्षु :- च्युत हो गया तो?

पूज्य भाईश्री :- च्युत हो गया तो मिथ्यात्व हो गया। च्युत हो जाये उसको मिथ्यात्व हो गया। वह तो अर्धपुद्गल परावर्तन तक अधिक से अधिक काल जन्म-मरण करता है। कम से कम दूसरे समय भी पुनः वह सम्यक् में आ सकता है। अंतर्मुहूर्त में भी। तीसरे समय में यानी जघन्य अंतर्मुहूर्त में भी वह पुनः शुद्धात्मा के अनुभव में आ जाये अथवा अर्धपुद्गल परावर्तन में कभी भी आ सकता है। आ ही जायेगा। उसने जो स्वाद लिया है, उसे जो अस्तित्व भासित हुआ है उस कारण से वह अनंत काल परिभ्रमण नहीं करेगा। कहीं भी विश्राम नहीं लेगा अनंत काल पर्यंत।

श्रीमद्जी ने उसमें लिया है, च्युत हो जाता है फिर भी क्यों पुनः ग्रहण कर लेता है? वह अस्तित्व के बोल में उन्होंने ने लिया है। अन्यथा तो अनुभव में लेना चाहिये। परन्तु उन्होंने तो अस्तित्व में वह बात ले ली है। पहले बात ले ली है। सम्यग्दर्शन होने से पहले सन्मुखता में उस बात का सम्बन्ध ले लिया है। एक बार भी अस्तित्व भासित हो तो वह दृष्टि की भाँति नजराता है। नजराने से आत्मा वहाँ से खिसक सकता नहीं। अब आगे की उस बात में अनुसंधान इस बात का है कि यदि आगे बढ़े तो भी पैर वापस गिरते हैं। वहाँ से छिटक जाता है। कषाय के परिणाम में आगे, विपरीत दिशा में थोड़ा भी आगे बढ़े तो उसे निर्बलता-कषाय की निर्बलता उत्पन्न होती है। जैसे कोई निर्बल मनुष्य

खड़ा होने जाये, चलने जाये और गिर जाये। इस तरह निर्बल हुआ कषाय कदाचित् आगे बढ़े तो वापस मुड़ जाता है। आगे बढ़े तो भी पैर वापस गिरते हैं अर्थात् प्रकृति जोर नहीं करती। एक बार सम्यक्त्व होने के बाद च्युत हो जाये तो पुनः ठिकाने आ जाता है। उसे पुनः सम्यक्त्व हो जाता है। ऐसा होने का कारण, ऐसा होने का मूल कारण। यहाँ 'मूल' शब्द का प्रयोग हुआ है। ऐसा होने का मूल कारण अस्तित्व भासित हुआ है वह है। एक बार उसे घर भासित हो गया, स्वयं की सत्ता भासित हुई कि प्रत्यक्ष स्वरूप से ऐसा हूँ। इसके बाद उसे जो चोट लगी है वह चोट अनंत काल तक हटती नहीं। ऐसा है। एक बार अन्दर में उसे चोट लगनी चाहिये।

कम समझ में मनुष्य ... गया हो तो उसके संस्कार जाते नहीं। स्वप्न आ गया हो अथवा ऐसा कुछ भास हो गया हो और तीव्र परिणाम से असर हुई हो, तो फिर ऐसा कुछ देखे तो पुनः भय लगता है। ऐसा कुछ देखे तो वह भय लगता है। वह तो एक परद्रव्य सम्बन्धित है। जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से सर्वथा भिन्न है। ऐसे विषय का भी इतना असर परिणाम भोगता है, तो अनंत अद्भुत आश्चर्यकारी महिमावंत जो आत्मतत्त्व है उसकी चोट परिणाम पर लगी हो, उसे उसका अस्तित्व भासित हो गया है। अस्तित्व देख लिया है कि मेरी सत्ता ऐसी है। ऐसी मेरी सत्ता है। बात खतम। वह सम्यग्दर्शन तो प्राप्त करेगा परन्तु प्राप्त करके च्युत होगा तो भी पुनः प्राप्त करने का कारण उसे, यह अस्तित्व भासित हुआ है यह मूल कारण है। ऐसी बात ली है।

मुमुक्षु :- ...

पूज्य भाईश्री :- उसे वह प्रश्न नहीं है। लेकिन यह तो ज्ञान करवाते हैं। प्रश्न हो, असमाधान हो तो उसका यह समाधान है। बाकी जो मोक्षमार्ग में प्रतिसमय, क्षण-क्षण में अनन्यभाव से प्रवर्तता है उसकी निःशंकता भी अलौकिक है। सम्यग्दृष्टि निःशंक है और निर्भय है। निर्जरा अधिकार में सात बोल लिये हैं। उसकी निःशंकता भी अलौकिक है! उसका नाप जगत के पदार्थों से निकल सके ऐसा नहीं है। ऐसी अनुपम निःशंकता है।

इसीलिये तो वहाँ दृष्टान्त लिया है कि वज्रपात हो जाये तो? अरे..! चौदह ब्रह्मांड में खलबली हो जाये तो भी उसकी निःशंकता डिगती नहीं। ऐसा प्रत्यक्ष परमात्मा खड़ा है न! फिर उसे दूसरा आधार लेने का क्या कारण है? उसे कोई संयोग का आधार लेने की आवश्यकता नहीं है।

ऐसे परमात्मा के आधार से परिणमन प्रवर्तता है उसे निःशंकता भी अभेद परिणमन के कारण अलौकिक है। शंका तो, जहाँ भेदवाला परिणमन हो वहाँ होती है, जहाँ गलत होता हो वहाँ होता है कि कौन जाने आज ऐसा होता है और कल ऐसा होगा तो? जहाँ अभेद परिणमन हो वहाँ ऐसी निःशंकता भी अलौकिक है और उस परिणमन की.... ऐसी है कि उसे कोई बात पूरी भाषा में आती नहीं, वहाँ कहे कैसे? यह कोई कहने का विषय नहीं है। वह तो ऐसा कहकर अटक जाना पड़ता है कि अवक्तव्य है, कहा जाये ऐसा नहीं है, अनिर्वचनीय है परन्तु वह निःशंकता भी अलौकिक एवं अनिर्वचनीय होती है। पूर्व में कभी नहीं हुई हो ऐसी होती है। इसलिये उसे उसमें अल्प भी शंका होने का अवकाश नहीं है।

‘वह पर्याय स्वयं ही द्रव्यके आधीन आ गई है। पर्याय आयेगी ही कहाँसे?’ अब यहाँ दूसरा एक न्याय देते हैं कि ये पर्याय आती कहाँ से हैं? कि द्रव्यमें से। किसी अन्य द्रव्यमें से तो आती नहीं। स्वद्रव्यमें से अपनी पर्याय उत्पन्न होती है। **‘अतः जब सम्पूर्ण द्रव्यको ही वशमें कर लिया है,...**’ ऐसे। जिसका द्रव्य पर कब्जा है यानी स्वद्रव्य तो अपने पड़ोशन में है, पड़ोशन लेना नहीं है, वह तो स्वयं ही है, ऐसा जहाँ भान हुआ उसने स्वद्रव्य को वश कर लिया। मैं स्वयं ही ऐसा परमात्मस्वरूप हूँ वहाँ उसने वश कर लिया। उसके अपने वश में आ गया, कबजे में आ गया।

सोगानीजी ने इस विषय में बहुत अच्छा टोन प्रदर्शित किया है कि दृष्टि भले ही, सम्यग्दर्शनरूप सम्यग्दृष्टि वह दृष्टि भले ही एक गुण की एक पर्याय है,

वह कहीं पूरा द्रव्य नहीं है, वह तो पूरे द्रव्य के अनन्त गुणोंमें से एक गुण की एक समय की पर्याय है तो भी उसका कार्य पूरे द्रव्य को, परिपूर्ण द्रव्य को, अनन्त स्वभावी द्रव्य को कबजे में लेने का है। दृष्टि ने जहाँ द्रव्य पर कब्जा किया, बस! मानों बात पूरी हो गई। एक अपेक्षा से, एक न्याय से बात खतम हो गई। जिसे घरमें से निधान मिला, उसे पूर्ण श्रीमंतता प्राप्त हो गई। लेकिन अभी भोगी कहाँ है? वह भोगी नहीं तो अब भोगेगा। अब उसमें उसे शंका नहीं होती।

इसलिये ऐसा कहा कि द्रव्यमें से पर्याय आती है और **‘जब सम्पूर्ण द्रव्यको ही वशमें कर लिया है,...**’ अर्थात् श्रद्धा-ज्ञान में स्वीकार कर लिया **‘तब पर्याय वशमें आ ही गई;...**’ द्रव्य वश हो गया वहाँ पर्याय वश नहीं हुई यह सवाल नहीं रहता। **‘पर्याय वशमें आ ही गई; तात्पर्य यह है कि द्रव्यके आश्रयसे पर्याय सम्यक् और निर्मल रूपसे ही परिणमित होने लगी।’** यह उसका वश होना है। ऐसे स्वद्रव्यरूप हूँ, इस स्वरूपरूप हूँ ऐसा स्वीकार करनेवाले श्रद्धा-ज्ञान में सम्यक्त्व की निर्मलता हो गई, यही उसका वशपना है। और क्या वश करना है? कि सम्यक् होना चाहिये, परिणमन निर्मल होना चाहिये। वह तो हो गया। उसे करने की इच्छा हुई और कर्तृत्व के अभिप्राय से नहीं होता, परन्तु इस विधि से होता है। तो तुझे होता है उससे मतलब है या तुझे कर्तृत्व के साथ मतलब है?

एक परिस्थिति क्या है कि पुरुषार्थ का स्वरूप जीव ने कल्पितपने अन्यथा निश्चित किया है। दूसरे प्रकार से निश्चित किया है, विपरीतरूप से निश्चित किया है। करना.. करना.. करना.. करना.. ऐसा कुछ करने का ज़ोर आये और फिर कार्य हो उसका नाम पुरुषार्थ किया। करु.. करु हो, कोई भी कार्य के विषय में करने का ज़ोर आये, उस कार्य को करने का ज़ोर आये इच्छा में और फिर कार्य करे तब उसे पुरुषार्थपूर्वक कार्य किया समझता है। इस प्रकार से पुरुषार्थ का स्वरूप जीव समझा है, उसे पुरुषार्थ का स्वरूप मालूम नहीं है। सम्यक् पुरुषार्थ कैसा होता है उसका स्वरूप उसे मालूम

नहीं है। अतः वह स्वयं की कल्पना अनुसार पुरुषार्थ करके स्वकार्य करना चाहता है कि मैं मेरे परिणाम सम्यक् करूँ, मेरे परिणाम शुद्ध निर्मल करूँ, इस तरह उसे परिणाम को करने पर ज़ोर लगाकर पुरुषार्थ करने का जो विचार आता है उस तरह तो ऐसे परिणाम, क्रोड़ प्रकार के कोटि उपाय उसे कहते हैं, कोटि उपाय से भी उसे सम्यक् नहीं होता और उसे शुद्धता होती नहीं। उसे परिणाम में इस तरह क्रंटोल किया नहीं जा सकता।

अतः द्रव्य के आश्रय से पर्याय निर्मल होने लगी वहाँ पर्याय वश हो ही गई ऐसा समझ में आता है, ऐसा अनुभव में आता है। **‘जब स्वभाव निर्णित हुआ तब ही मिथ्याज्ञानका नाश होकर सम्यक्ज्ञान हुआ, मिथ्याश्रद्धा पलट कर सम्यग्दर्शन हुआ।’** जब आत्मस्वभाव निश्चित हो गया, आत्मस्वरूप श्रद्धा-ज्ञान में निश्चित हुआ वहाँ निर्णय करनेवाले श्रद्धा एवं ज्ञान स्वयं सम्यक् हो गये और परिणाम में निर्मलता व्याप्त हो गई। बस! परिणाम में सम्यक्ता उत्पन्न हुई। जो करनेयोग्य था वह हुआ।

‘इस प्रकार पर्याय निर्मल होने लगी-यह भी वस्तुका धर्म है।’ देखिये! यहाँ एक विशेष बात को पक्की की है कि ऐसा नहीं होता था और ऐसा होने लगा, उसमें उसे कुछ नवीनता नहीं लगी। अपना स्वरूप देखने पर स्वयं की वस्तु का स्वभाव, वस्तु धर्म कहो या वस्तु का स्वभाव ऐसा ही परिणमित होने का है। अन्य रीति से परिणामने का वस्तु का स्वभाव नहीं है। ऐसा भी वहाँ वस्तु की प्रतीति एवं ज्ञान वर्तता है। कैसे पक्का होता है! ऐसा शुद्ध परिणामन हुआ, कैसे हुआ इसकी विस्मयता या उसका कोई आश्चर्य या उसकी कोई शंका-आशंका हो, अज्ञानता हो ऐसा नहीं है। वस्तु ऐसे ही परिणमित हो यह वस्तु का स्वभाव है। वत्थु सहावो धम्मो। धर्म की परिभाषा अथवा सूत्र इस तरह किया है। शब्द अनुसार अर्थ करना उसे परिभाषा करनी ऐसा कहने में आता है।

समयसार की पहली गाथा की टीका में आचार्य

अमृतचंद्रदेव (कहते हैं कि) मैं इस समयसार की टीका करता हूँ। उसमें यह शब्दप्रयोग किया है कि मैं परिभाषण करता हूँ। परिभाषा-व्याख्या-डेफिनेशन जिसे हम कहते हैं। वह परिभाषण। उसका नाम है परिभाषण। वहाँ उसका अर्थ किया है कि जैसा भाव, जैसा अर्थ हो वैसी भाषा करनी उसे परिभाषा कहते हैं। यहाँ ऐसा कहते हैं कि वस्तु का जैसा स्वभाव है वैसा ही उसका परिणामन होना वह धर्म की परिभाषा है। उसे धर्म कहते हैं। ऐसी धर्म की परिभाषा है। धर्म कोई रूढ़ि, रीवाज यह कोई धर्म का स्वरूप नहीं है।

सामान्यतः अंधश्रद्धा से कोई संप्रदाय में रीत-रीवाज होते हैं उसे धर्म मान लिया जाता है। माला फेरनी या पूजा करनी या उपवास करना या दान देना, यह कोई धर्म का स्वरूप नहीं है ऐसा कहते हैं। वह धर्म नहीं है और धर्म का स्वरूप भी नहीं है। धर्म का स्वरूप तो वस्तु का जैसा स्वभाव है वह धर्म है और उसका परिणामन होना वह प्रगट धर्म है। वस्तु का स्वभाव स्वयं धर्मी है। ऐसे धर्म को धारण करनेवाला स्वयं धर्मी है और उसका परिणामन होना, ऐसा ही परिणामन होना वह उसका धर्म है। इससे अतिरिक्त धर्म की कोई दूसरी परिभाषा नहीं है।

पहली बार जैनदर्शन का यह सूत्र पढ़ा तब बहुत विचार आये। कितनी-कितनी क्रिया में लोग धर्म मानते हैं। थोड़ी दया पाली तो कहे धर्म पाला। गुरुदेवश्री दृष्टान्त देते थे कि धर्म तो ऐसा विकृत कर दिया है कि नीच-भीखारी ऐसा कहता है कि साहब! एक बीड़ी देना, धर्म होगा। क्या कहते थे? बीड़ी पीना सो व्यसन है और अधर्म है। धर्म को लौकिक में यहाँ तक लगा देते हैं कि एक बीड़ी का कोई दान देवे तो उसे धर्म कहते हैं। कौन? मांगनेवाला। आप मुझे एक बीड़ी दो तो आप को धर्म होगा। यहाँ से लेकर धर्म को इतना सस्ता कर दिया कि ठीक लगे ऐसे अपनी कल्पना अनुसार (मानने लगे)। बिमार होता है तब कोई भी प्रयोग नहीं करता। वहाँ तो बराबर जानकार डॉक्टर हो उसके अलावा किसी की दवाई नहीं करनी है। मरना तो अच्छे डॉक्टर

के हाथ, ऐसा कहे। भले ही ठीक नहीं कर दे लेकिन मरना तो उसके हाथ से, ऐसा कहे। यानी कि उसकी पसंदगी के लिये दूसरा कुछ उन्नीस-बीस नहीं चाहिये। और धर्म में कुम्हार और नाई हो तो बाल काटते-काटते धर्म की फिलोसॉफी करेगा। उसमें सब को छूट है। मुक्त क्षेत्र है, कोई रोकटोक करनेवाला तो है नहीं।

गुरुदेवश्री कभीकभार अफसोस करते थे कि, अरे..रे..! इस क्षेत्र में वर्तमान में तो धर्मधुरंधर तीर्थकरों का अभाव हो गया। कोई रोकटोक करनेवाला रहा नहीं। अतिपुण्यवंत है न। इसलिये उनके सामने कोई आवाज़ नहीं उठा सकता। दूसरा कोई भी छद्मस्थ जीव धर्म के विषय में प्रवृत्ति करे कि ऐसा धर्म है ऐसा प्रसिद्ध करे, ... प्रवृत्ति उसे कहते हैं, तो पूर्ण पुण्य नहीं होने के कारण उसका विरोध हो ऐसा बनता है। और वैसा धर्म नहीं है और ऐसा धर्म है ऐसा उलटा कहनेवाले भी सामने ज़ोर करते हैं। यह देखकर ऐसा कहते थे कि अरे..रे..! अभी भगवान का विरह हो गया। चौबीस तीर्थकर को हुए यहाँ तो २५०० वर्ष हो गये। कोई कहनेवाला रहा नहीं। स्वामी रहित पशु की भाँति चाहे जैसे घूमे, कोई चरानेवाला नहीं है। वैसे ही धर्म के क्षेत्र में भी कोई भी जीव, साधारण प्राणी, चाहे जैसा मनोकल्पित धर्म के नाम पर ढोंग चलाते हैं, ऐसा सब यहाँ चलता है। अफसोस करते थे।

कहते हैं कि यह अति किमती मूल्यवान वस्तु है। जीव को परिभ्रमण का नाश करनेवाला, छेद करनेवाला धर्म है और सर्व सिद्धि का उपाय भी धर्म है। उसका मूल्य कभी भी कम नहीं आंकना चाहिये। पूरी गंभीरता से उस विषय में प्रवेश करना चाहिये। अथवा पूरी गंभीरता से उस विषय को स्पर्श करना चाहिये। मज़ाक में भी उस विषय को स्पर्श नहीं करना चाहिये। ये तो बहुत वक्ता ऐसे हैं वे भी उस प्रकार से चलते हैं। धर्म के विषय में तो पूरी गंभीरता होनी चाहिये। क्योंकि वह अतिगंभीर विषय है।

क्या कहते हैं? 'वस्तु का धर्म है।' पर्यायें निर्मल होने लगी, उसकी ही पर्यायों का परिणमन हुआ वह मूल धर्म है, वस्तु का वह मूल धर्म है। अतः वस्तु

ऐसे क्यों धर्मस्वरूप निर्मलरूप से परिणमित हुई? यह प्रश्न भी नहीं रहता। वह वस्तु के आधार से निःशंक होता है। 'वस्तुस्वभाव बदला नहीं...' वस्तु का ऐसा जो मूल स्वभाव वह त्रिकाली होने से कभी भी बदलता नहीं, हेरफेर होता नहीं। वर्तमान में भी वह बदला नहीं। 'और पर्यायोंकी क्रम-धारा टूटी नहीं।' क्या देखता है? कि मेरी वस्तु इस तरह धर्मरूप परिणमन करने के स्वभावस्वरूप है वह क्रम से परिणमित हो रही है, उसमें धारा टूटती नहीं है। ऐसा अनुभवी देखता है उसकी निःशंकता कितनी! जो अनंत सामर्थ्यवंत पदार्थ के आधार से निःशंकता होती है उस निःशंकता में भी अनंत शक्ति है।

जैसे जड़ परमाणु अनंत जड़त्वरूप है। एक रजकण को कोई भी अनंत प्रकार के प्रयोग द्वारा सचेतन कर नहीं सकता, ऐसा उसका अनंत जड़त्व है। क्योंकि जो स्वभाव होता है वह अनंत होता है, परिपूर्ण होता है, वह अल्प और अधूरा नहीं होता। वैसे चैतन्य का चैतन्यत्व अनंत और परिपूर्ण है, उसमें कहीं न्यूनता नहीं है।

'और पर्यायोंकी क्रम-धारा टूटी नहीं। द्रव्यके ऐसे-ऐसे स्वभावकी स्वीकृतिमें...' ऐसा हूँ... ऐसा ही हूँ... ऐसा ही हूँ... ऐसी स्वीकृति में 'पर्यायकी निर्मल धाराका जन्म हुआ और ज्ञानादिरूप अनन्त पुरुषार्थ उसीमें समाविष्ट है।' सहज परिणमन हुआ उसमें भी सहज पुरुषार्थ साथ ही साथ आ गया। उसमें पुरुषार्थ का परिणमन, अब कैसे पुरुषार्थ हुआ, कैसे करना यह सवाल नहीं रहता। स्वयं के पुरुषार्थ का परिणमन भी बराबर सुयोग्यरूप से यथास्थान में बलवानरूप से वर्तता है यह भी धर्मी को उसके अनुभव में रहता है। अतः पुरुषार्थ का क्या? यह प्रश्न नहीं रहता। पुरुषार्थ का स्वरूप जाने तो तो अनेक प्रश्न पुरुषार्थ सम्बन्धित विपरीत धारणापूर्वक के हैं वह छूट जाते हैं।

क्या कहा? 'द्रव्यके ऐसे-ऐसे स्वभावकी स्वीकृतिमें...' ऐसे। फिर एक गुण नहीं लिया। जैसा

है वैसा। ऐसा द्रव्य है, ऐसा स्वभाव है उसकी स्वीकृति में 'पर्यायकी निर्मल धाराका जन्म हुआ...' पर्याय की धारा शुरू हो गई, शुरू होकर बढ़ती गई। उसमें 'ज्ञानादिरूप...' ज्ञान (आदि) अनंत गुण का 'पुरुषार्थ उसीमें समाविष्ट है।' पुरुषार्थ का क्या यह सवाल नहीं रहता।

मुमुक्षु :- श्रद्धा सुलटी तो सब गुण सुलटे।

पूज्य भाईश्री :- अनंत गुण सुलटे होते हैं। इसलिये उसे मूल गुण 'दंसण मूलो धम्मो' मूल धर्म इसलिये कहने में आया है कि जहाँ सम्यक्त्व होता है वहाँ अनंत गुण-सर्व गुणांश—आंशिकरूप से सर्व गुण सम्यक् हो जाते हैं, परिणमन में शुद्ध हो जाते हैं। ऐसा उसका निर्मल परिणमन होने का वस्तु स्वभाव है, वस्तु का यह स्वभाव है।

मुमुक्षु :- पुरुषार्थ का स्वरूप...?

पूज्य भाईश्री :- पुरुषार्थ का स्वरूप—पुरुषार्थ स्वयं के स्वरूप को... परिणमन निज स्वरूप को प्रत्यक्ष कर-कर के ज़ोर पकड़ता है कि ऐसा ही हूँ। ज्ञान में स्वयं के स्वरूप का बार-बार प्रत्यक्षता में आकर ज़ोर आये उसे पुरुषार्थ, सहज ज़ोर उत्पन्न हो उसे पुरुषार्थ का स्वरूप कहने में आता है। ज़ोर से, वेगपूर्वक परिणमन का उत्पन्न होना, परिणमन उछलकर स्वरूप के प्रति जाना, उछल-उछलकर स्वरूप के प्रति परिणाम जाये, सन्मुखता के परिणाम रहे, उसमें भी बलवानपना रहे, ज़ोर रहे, शक्ति रहे तब उसे पुरुषार्थ साथ में है ऐसा कहने में आता है।

उपलक्षण से विचार करे तो कोई भी जीव को ऐसे सहज पुरुषार्थ से अभी सर्वप्रथम निर्विकल्प उपशम सम्यग्दर्शन का काल हो, अभी धर्म की प्रथम अवस्था है, तब वह शुद्धोपयोग में वर्तता जीव, उस जीव को स्पर्शादि विषयों का ज्ञान नहीं होता। आता है? टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी में। अर्थात् उस जीव को कभी भी, उस काल में भी यदि कोई प्रतिकूलता हो और चाहे जितनी प्रतिकूलता हो, प्रतिकूलता हो इतना ही नहीं परन्तु चाहे जितनी प्रतिकूलता हो तो भी उसके पुरुषार्थ का बल इतना है कि उस पुरुषार्थ के

कारण परिणमन स्वसन्मुख, अंतर्मुख ही रहता है। और उस परिणाम को बहिर्मुख करने में कोई समर्थ नहीं है। जगत की अनंत प्रतिकूलता भी उस अंतर्मुख उपयोग को बहिर्मुख-बाहर लाने में समर्थ नहीं है। बाहर आये तो भी अपने कारण से और अंतर में रहे तो भी वह अपने कारण से है। ऐसा अनंत पुरुषार्थ वहाँ है। प्रथम धर्म की दशा में अनंत पुरुषार्थ है। तब तो उसे, अनंतानुबंधी को छेदकर उत्पन्न हुआ पुरुषार्थ है ऐसा कहने में आता है। मालूम ही नहीं पड़े। उपयोग को बाहर मोड़े कहाँ से? लेकिन उस उपयोग को मालूम ही नहीं पड़ता कि यहाँ बाहर में दूसरा कुछ होता है।

आत्मा के अलावा योग-साथ में रहे शरीर को कुछ होता है यह उपयोग में मालूम नहीं पड़ता। वह व्याप्य-व्यापकपने लीन और मग्न हुआ शुद्धोपयोग है। उसमें पुरुषार्थ कितना? कि अनंत पुरुषार्थ है ऐसा कहते हैं। आगे तो उससे भी अधिक पुरुषार्थ है, परन्तु प्रथम दशा में भी अनंत पुरुषार्थ है। यह पुरुषार्थ का स्वरूप है। पुरुषार्थ यानी शक्ति का यह स्वरूप है।

'स्व या पर-जब किसी द्रव्य, किसी गुण व किसी पर्यायमें हेर-फेर करनेकी बुद्धि न रही तब ज्ञान-ज्ञानमें ही जम गया, अर्थात् मात्र वीतरागी ज्ञाता-भाव ही रह गया-ऐसे साधकको अल्पकालमें मुक्ति होगी ही।' नहीं होने का सवाल नहीं है। ऐसा है। स्वद्रव्य या परद्रव्य, कोई द्रव्य को हेरफेर नहीं करना है। स्व-पर द्रव्य में कोई गुण को हेरफेर नहीं करना है, द्रव्य को हेरफेर करना नहीं रहता या उसकी समय-समय में हो रही कोई पर्याय को भी हेरफेर करना नहीं रहता। इस प्रकार कर्तृत्वबुद्धि, हेरफेर करने की मिथ्याबुद्धि है वह मिट जाती है तब ज्ञान ज्ञाता-दृष्टा भाव में रह जाता है ऐसा कहना है। वीतरागभाव में रह जाता है, ज्ञाता-दृष्टाभाव में रह जाता है। उसकी अल्प काल में मुक्ति हो जाती है।

जड़ को हेरफेर करने की बुद्धि क्यों नहीं रही? कि वस्तु का स्वरूपज्ञान ऐसा हुआ कि कोई द्रव्य को हेरफेर नहीं कर सकते। जड़में से चेतन नहीं कर सकते, चेतनमें से जड़ नहीं कर सकते, क्षेत्र से क्षेत्रांतर नहीं कर

सकते, किसी भी प्रकार से द्रव्य में हेरफेर नहीं कर सकते। द्रव्य जो है सो है सर्व काल में। उसमें हेरफेर करना असंभव है, ऐसा ज्ञान हो तब उसमें हेरफेर करने की बुद्धि नहीं रहती। स्वपर द्रव्य के अनंत गुण हैं, उन अनंत गुणों में भी कोई हेरफेर नहीं कर सकते ऐसा ज्ञान हो तब उसमें हेरफेर करने का अभिप्राय—बुद्धि नहीं रहती।

कोई भी पदार्थ की अवस्था भी इच्छा करके, राग करके बदली नहीं जाती, हेरफेर की नहीं जा सकती। समय-समय की योग्यता अनुसार सर्व द्रव्य, सर्व काल में परिणमते हैं। उसमें किसी भी प्रकार का हेरफेर करना असंभवित है, ऐसा जब मालूम पड़ता है तब उसमें हेरफेर करने का अभिप्राय अथवा बुद्धि नहीं रहती। इस प्रकार जब स्व-पर पदार्थ के द्रव्य-गुण-पर्याय का यथार्थ ज्ञान होता है तब ज्ञान कहीं इधर-उधर नहीं जाकर ज्ञान ज्ञान में रह जाता है। ऐसा कहते हैं। हेरफेर करने के अभिप्रायवाला ज्ञान, मिथ्याबुद्धि सहित का ज्ञान, आकुलता उत्पन्न करनेवाला ज्ञान, दुःख में

रमणता करता हुआ ज्ञान अनेक द्रव्य-गुण-पर्याय में हेरफेर करना चाहता है तो भी हो नहीं सकता। अपितु वह उसका उलटा और विपरीत एवं विकृत परिणमन है, वह उसे स्वयं को ही दुःखदायी है।

यहाँ कहते हैं कि तू स्व-पर पदार्थ का ज्ञान कर तो तेरा ज्ञान ज्ञान में स्थिर हो जायेगा। जहाँ ज्ञान ज्ञान में स्थिर हो गया तो वीतरागता हो गई। वीतरागी ज्ञाता-दृष्टाभाव रह गया। उसे अल्पकाल में मुक्ति होगी उसकी चिंता करने का, शंका-आशंका करने का प्रकार उत्पन्न होता नहीं। वर्तमान में उसे नहीं होता। फिर कभी च्युत होकर शंकाशील कब होता है? कि स्वयं शंका में रहता हो तब। स्वद्रव्य की शंका वहाँ सब शंका। स्वद्रव्य में निःशंक वहाँ सर्वथा निःशंक। 'ज्यां शंका त्यां गण संताप, ज्ञान तहाँ शंका नहीं स्थाप।' इतना दूसरा बोल लिया है। जहाँ स्वपर पदार्थ का ज्ञान है वहाँ शंका उत्पन्न नहीं होती। अतः वहाँ शंका की स्थापना नहीं होती। शंका का उत्थापन कर दे। विशेष लेंगे...

पूज्य भाईश्री शशीभाईजी के प्रवचन अब You tube पर

परम उपकारी पूज्य भाईश्री शशीभाईजी के प्रकाशित पुस्तकों के प्रवचन गुजराती एवं हिन्दी भाषा के Subtitle साथ अब देखिये। You tube में Satshrut prabhavna channel पर जाकर यह प्रवचन सुन सकते हो। यह प्रवचन पूर्ण होने के बाद राज-हृदय, कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी के ग्रन्थ पर हुए प्रवचनों का प्रारम्भ किया जायेगा। हर रविवार सुबह ११ बजे इन प्रवचनों का जीवंत प्रसारण होता है, जिसका सर्व मुमुक्षुओं को लाभ लेने की विनती। Channel को Subscribe करने से आगामी प्रसारित प्रवचन का Notification स्वयं ही प्राप्त हो जायेगा।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (जून-२०२२) का शुल्क स्व. ललिताबेन छोटालाल देसाई की पुण्यस्मृति में, ह. श्रीमती वर्षाबेन हेमाणी, भावनगर के नाम से साभार प्राप्त हुआ है। जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

पूज्य बहिनश्री की वीडियो तत्वचर्चा
मंगल वाणी-सी.डी. १२-A

(३७:५० मिनट से ..)

मुमुक्षु :- मति-श्रुतज्ञान में प्रत्यक्ष होना ही आत्मा का स्वभाव है।
समाधान :- हाँ, मति-श्रुतज्ञान में प्रत्यक्ष होने का स्वभाव है। मति-
श्रुतज्ञान स्वभाव सन्मुख हो तो उसकी अनुभूति में प्रत्यक्ष होता है।
मुमुक्षु :- ऐसा परमपुरुष ने किया हुआ निर्णय भी अत्यन्त प्रत्यक्ष ही
है।



समाधान :- परम पुरुषोंने किया हुआ निर्णय भी प्रत्यक्ष है। परम पुरुषोंने निश्चित किया ऐसा वह अनुभूतिसे किया हुआ निर्णय प्रत्यक्ष निर्णय है। उसे अनुभूति में आया है, इसलिये उसका निर्णय प्रत्यक्ष है। वे अनुभूतिसे कहते हैं।

मुमुक्षु :- ऐसा कहना चाहते हैं?
समाधान :- ऐसा कहना है। वे अनुभवसे कहते हैं कि आत्मा प्रत्यक्ष है। उनका किया हुआ निर्णय अत्यन्त प्रत्यक्ष है। क्योंकि वे अनुभवसे कहते हैं।

मुमुक्षु :- ऐसा निर्णय हमें वर्तता है, ऐसा श्रीमद्जी कहना चाहते हैं?
समाधान :- ऐसा निर्णय हमें वर्तता है, ऐसी स्वानुभूति और ऐसा निर्णय हमें वर्तता है, ऐसा कहते हैं। जो परम पुरुषने किया हुआ निर्णय हमें वर्तता है। ऐसा कहना चाहते हैं कि हमें भी स्वानुभूतिसे प्रत्यक्ष हुआ है, ऐसे अर्थ में कहते हैं।

मुमुक्षु :- अत्यन्त शब्दप्रयोग जो किया है, अत्यन्त प्रत्यक्ष कहा, स्वभावसे प्रत्यक्ष कहा और अत्यन्त प्रत्यक्ष..

समाधान :- परम पुरुषोंने किया हुआ निर्णय अत्यन्त प्रत्यक्ष (है), क्योंकि स्वानुभूतिसे प्रत्यक्ष है। सबको प्रत्यक्ष है, आत्मा प्रत्यक्ष है परन्तु हमने किया हुआ निर्णय, परम पुरुषोंने किया हुआ निर्णय अत्यन्त प्रत्यक्ष है। क्योंकि स्वानुभूतिसे किया हुआ निर्णय है, इसलिये अत्यन्त प्रत्यक्ष है।

मुमुक्षु :- वह निर्णय भी स्वानुभूतिपूर्वक है?
समाधान :- स्वानुभूतिपूर्वक निर्णय किया वह अत्यन्त प्रत्यक्ष है।
मुमुक्षु :- दोमें-से बलवान कौन? मोक्ष का कारण कौन?

समाधान :- मोक्ष का कारण तो आत्मा है, लेकिन उसका निर्णय तो उसकी स्वानुभूति में होता है। उसका अवलम्बन तो आत्मा है, लेकिन वह स्वानुभूति में आता है, निर्णय में आता है। इसलिये प्रगट की अपेक्षासे श्रद्धा बलवान है और उसके आश्रय की अपेक्षासे द्रव्य बलवान है। स्वानुभूति के बिना उसे ख्याल में नहीं आता। इसलिये स्वभावसे बलवान है, उसका सामर्थ्य बलवान है परन्तु वह स्वानुभूति में आता है इसलिये

बलवान स्वानुभूति हुई, परन्तु उसका आश्रय आत्मा है इसलिये आत्मा बलवान है। आत्मा के आश्रयसे स्वानुभूति होती है।

मुमुक्षु :- कोई अपेक्षासे दोनों बलवान हैं, ऐसा ले सकते हैं।

समाधान :- अपेक्षासे दोनों बलवान है। स्वानुभूति ऐसी है, प्रत्यक्षता ऐसी है कि वहाँ कोई शंका या तर्क लागू नहीं पड़ता, किसीसे वह टूट नहीं सकती। जो केवलज्ञान में जाना है, वह उसकी स्वानुभूति में (आया है)। स्वानुभूति में केवलज्ञान का अंश है। सिद्ध की स्वानुभूति और सम्यग्दर्शन की स्वानुभूति, एक है। इसलिये प्रत्यक्ष बलवान है। वह पर्याय अपेक्षासे। द्रव्य में अनन्त सामर्थ्य है, इसलिये द्रव्य बलवान है।

मुमुक्षु :- माताजी! गुरुदेव के एक वचनामृत में आता है कि राग के विकल्पसे खण्डित होता था, वह जीव स्वरूप का निर्णय करके अन्दर स्वरूप में स्थिर हुआ, वहाँ जो खण्ड होता था वह अटक गया और अकेला आत्मा अनन्त गुणोंसे भरितावस्थ आनन्दस्वरूप रह गया। तो माताजी! खण्ड होता था वह अटक गया, उसका अर्थ क्या?

समाधान :- राग के विकल्प में था तबतक खण्ड होता था। उपयोग एक के बाद एक पलटता रहता है, इसलिये क्षयोपशमज्ञान राग के साथ जुड़ा हुआ था इसलिये उपयोग में खण्ड होता था। परन्तु वह अंतर में गया तो खण्डित होता था वह अटक गया। अंतर में राग का विकल्प छूट गया इसलिये खण्ड जो था वह खण्ड होते हुए अटक गया और स्वरूप में लीन हुआ। इसलिये अखण्ड स्वरूप आत्मा है उसकी अनुभूति करता है। राग अपेक्षासे खण्ड अटक गया।

मुमुक्षु :- खण्ड तो ज्ञान में पड़ता था।

समाधान :- खण्ड ज्ञान में पड़ता था।

मुमुक्षु :- वह खण्ड अटक गया।

समाधान :- वह खण्ड अटक गया।

मुमुक्षु :- एक अखण्ड को विषय किया इसलिये ज्ञान खण्ड-खण्डरूप होता हुआ अटक गया।

समाधान :- वह अटक गया। अखण्ड को विषयकर के स्वानुभूति में गया उसमें स्थिर हुआ इसलिये क्षयोपशमज्ञान में जो खण्ड पड़ता था वह अटक गया। उसके उपयोगमेंसे अटक गया।

मुमुक्षु :- एक अखण्ड के सिवा किसीको विषय करना वह ज्ञान का खण्ड-खण्डपना है?

समाधान :- ज्ञान पर की ओर जाता है इसलिये खण्ड-खण्ड होता है।

मुमुक्षु :- स्वानुभव होनेपर वह खण्ड अटक गया?

समाधान :- खण्ड अटककर एक अखण्ड को विषय किया है इसलिये वह खण्ड अटक गया।

मुमुक्षु :- विकल्प अटक गया ऐसा कहे अथवा खण्ड अटक गया, वैसे तो सब एक ही है।

समाधान :- दोनों एक ही है। विकल्प अटक जाय तो खण्ड अटक जाता है। राग का विकल्प और ज्ञान का खण्ड साथ रहे हैं।

मुमुक्षु :- जबतक विकल्प होता है तबतक ज्ञान भी खण्ड-खण्ड होता है।

समाधान :- खण्ड-खण्ड होता है। अन्दर स्वानुभूति में गया इसलिये वह खण्ड होते हुए अटक गया। स्वयंने स्वयं को विषय किया और स्वानुभूति करता है। स्वयं अपने गुणों को जानता है। क्षयोपशमज्ञान, जबतक केवलज्ञान नहीं हुआ है तबतक होता है, इसलिये बाहर आता है। वहाँ भेदज्ञान की धारा चालू रहती है। परन्तु क्षयोपशमज्ञान है इसलिये राग के साथ ज्ञान भी-उपयोग भी पलटता रहता है। इसलिये पुनः बाहर आता है तब उपयोग खण्ड-खण्ड होता है। लेकिन उसे आश्रय एक अखण्ड का है। बाहर आये तो भी आश्रय तो एक अखण्ड का ही है। केवलज्ञान होता है, पूर्ण ज्ञान होता है तब वह खण्ड ज्ञान मूलमेंसे क्षयोपशमज्ञान पलटकर क्षायिक ज्ञान हो जाता है।

मुमुक्षु :- फिर बाहर आकर जो खण्ड होता था वह खण्ड नहीं होता है।

समाधान :- अखण्ड हो गया, पूर्ण रूपसे सब अटक गया। यह तो स्वानुभूति की अपेक्षासे अटक गया है। स्वानुभूति के समय अटक गया है और बाहर आये तो भी आत्मा का आश्रय लिया इसलिये वह खण्ड दर्शन अपेक्षासे अटक गया है।

मुमुक्षु :- अखण्ड की परिणतिपूर्वक उपयोग बाहर जाता है।

समाधान :- परिणति स्वयं की चालू रखकर बाहर जाता है। पहले खण्ड-खण्ड होता था वैसा नहीं होता। अखण्ड ज्ञायक को ग्रहणकर बाहर जाता है। पहले तो स्वयं का ज्ञान नहीं था इसलिये एक के बाद एक खण्ड-खण्ड ही हुआ करता था। लेकिन आत्मा का आश्रय लिया इसलिये अखण्ड को हाथ में लिया है। अखण्डता रखकर फिर बाहर जाता है।

मुमुक्षु :- पहले तो पर में पूर्णरूपसे एकाकार हो जाता था।

समाधान :- पूर्णरूपसे हो जाता था, कुछ मालूम नहीं था। जो विकल्प आये उस विकल्पमय होता था। जिसप्रकार का राग आये उस रूप होता था। अन्दर कोई मन्द कषाय हो तो उसे लगे कि यह ठीक नहीं है। परन्तु उस रूप हो जाता था। उसे ज्ञायक हाथ में-ग्रहण नहीं हुआ था। अब तो ज्ञायक ग्रहण (हुआ) तो अपने हाथ में रहता है और बाहर जाता है।

मुमुक्षु :- वैसे देखे तो बहुत बड़ा अन्तर पड़ गया।

समाधान :- बहुत बड़ा अन्तर हो गया। उसकी दिशा पूरी बदल गई है। पूर्व-पश्चिम दिशा हो गयी। पहले तो सिर्फ बाहर की दिशा ही थी और यह दिशा तो आत्मा की हो गई। दिशा स्वसन्मुख (होकर) आत्मा का आश्रय लिया। इसलिये परिणति की पूरी दिशा बदल गई। स्वयं को ग्रहणकरके फिर बाहर जाता है। इसलिये वास्तव में तो भेदज्ञान की धारा, ज्ञान की धारा चालू रखकर जाता है। इसलिये अखण्ड मुख्य रहता है और खण्ड-खण्ड गौण रहता है। अखण्ड मुख्य (रहता है)। स्वयं ऊपर तैरता हुआ अखण्ड रहकर फिर खण्ड होता है। वह खण्ड गौण होता है।

मुमुक्षु :- नीचे की भूमिका में उपयोग बहुभाग बाहर जानेपर भी वह गौणरूपसे खण्ड रहता है।

समाधान :- खण्ड गौण रहता है। मुख्य अखण्डता रहती है। अस्थिरता को गौण कही जाती है, भेदज्ञान की धारा मुख्य रहती है।

३०४

ववाणिया, कार्तिक सुदी, १९४८

ॐ

यथायोग्य वंदन स्वीकार करें। समागममें दो चार कारण आपको खुले दिलसे बात नहीं करने देते। अनन्तकालकी वृत्ति, समागमियोंकी वृत्ति और लोकलज्जा प्रायः ये सब उन कारणोंकी जड़ है। ऐसे कारणोंसे कोई भी प्राणी कटाक्षका पात्र बने ऐसी मेरी दशा प्रायः नहीं रहती। परंतु अभी मेरी दशा कोई भी लोकोत्तर बात करते हुए झिझकती है अर्थात् मनका मेल नहीं बैठता।

‘परमार्थ मौन’ नामका एक कर्म अभी उदयमें भी रहता है, जिससे बहुत प्रकारका मौन भी अंगीकार किया है; अर्थात् परमार्थसंबंधी बातचीत प्रायः नहीं की जाती। ऐसा उदयकाल है। क्वचित् साधारण मार्गसम्बन्धी बातचीत की जाती है, नहीं तो इस विषयमें वाणीसे और परिचयसे मौन और शून्यता ग्रहण किये गये हैं। जब तक योग्य समागम होकर चित्त ज्ञानी पुरुषके स्वरूपको नहीं जान सकता, तब तक उपर्युक्त तीन कारण सर्वथा दुर नहीं होते, और तब तक ‘सत्’ का यथार्थ कारण प्राप्त भी नहीं होता। ऐसा होनेसे आपको मेरा समागम होनेपर भी बहुत व्यावहारिक और लोकलज्जायुक्त बात करनेका प्रसंग रहेगा, और उससे मुझे कंटाला आता है। आप चाहे जिससे भी मेरा समागम होनेके बाद इस प्रकारकी बातमें फँसे, इसे मैंने योग्य नहीं माना है।

३०५

ववाणिया, कार्तिक वदी १, १९४८

ॐ

जो धर्मजवासी हैं, उन्हें यद्यपि सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति नहीं है, तथापि मार्गानुसारी जीव होनेसे समागम करने योग्य हैं। उनके आश्रयमें रहनेवाले मुमुक्षुओंकी भक्ति, विनयादिका व्यवहार, वासना-शून्यता ये देखकर अनुसरण करने योग्य है। आपका जो कुलधर्म है, उसके कुछ व्यवहारका विचार करनेसे उपर्युक्त मुमुक्षुओंका व्यवहार आदि... उनके मन, वचन और कायाकी प्रवृत्ति, सरलता... के लिये समागम करने योग्य है। किसी भी प्रकारका दर्शन हो उसे महा पुरुषोंने सम्यग्ज्ञान माना है ऐसा नहीं समझना है। पदार्थका यथार्थ बोध प्राप्त हो उसे सम्यग्ज्ञान माना गया है।

धर्मज जिनका निवास है, वे अभी उस भूमिकामें नहीं आये हैं। उन्हे अमुक तेजोमयादिका दर्शन है। तथापि वह यथार्थ बोधपूर्वक नहीं है। दर्शनादिकी अपेक्षा यथार्थ बोध श्रेष्ठ पदार्थ है। यह बात जतानेका हेतु यह है कि आप किसी भी प्रकारकी कल्पनासे निर्णय करनेसे निवृत्त हो जायें।

ऊपर जो कल्पना शब्दका प्रयोग किया गया है, वह इस अर्थमें है कि-“हमने आपको उस समागमकी सम्मति दी जिससे वे समागमी ‘वस्तुज्ञान’ के संबंधमें जो कुछ प्ररूपण करते हैं, अथवा उपदेश देते हैं, वैसी ही हमारी मान्यता भी है, अर्थात् जिसे हम ‘सत्’ कहते हैं वह, परंतु हम अभी मौन रहते हैं, इसलिये उनके समागमसे आपको उस ज्ञानका बोध प्राप्त कराना चाहते हैं।”

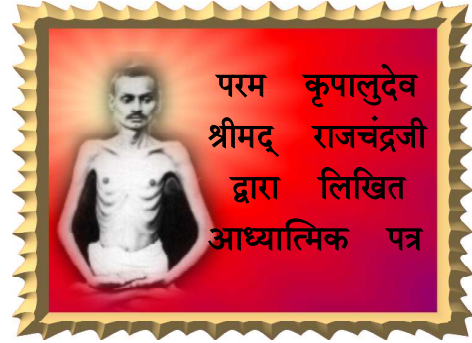
३०१

ववाणिया, कार्तिक सुदी ८, सोम १९४८

स्मरणीय मूर्ति श्री सुभाग्य,

जगत आत्मरूप माननेमें आये, जो हो वह योग्य ही माननेमें आये, परके दोष देखनेमें न आये, अपने गुणोंकी उत्कृष्टता सहन करनेमें आये तो ही इस संसारमें रहना योग्य है, दूसरी तरहसे नहीं।

वि. रायचंदके यथायोग्य।



३०२

ववाणिया, कार्तिक सुदी १३, शनि, १९४८

‘सत्यं परं धीमहि।’

(ऐसा जो) परम सत्य, उसका हम ध्यान करते हैं।

यहाँसे कार्तिक वदी ३, बुधके दिन विदा होनेकी इच्छा है।

पूज्य श्री दीपचंद्रजी स्वामीको वंदना करके विज्ञापन करे कि यदि उनके पास कोई दिगम्बर संप्रदायका ग्रंथ मागधी, संस्कृत या हिन्दीमें हो और वह पढ़नेके लिये दिया जा सके तो लेकर अपने पास रखे, अथवा तो वैसा कोई अध्यात्म ज्ञानग्रंथ हो तो उस विषयमें पूछें। उनसे यदि कोई वैसा ग्रंथ प्राप्त हो तो उन्हें वह मोरबीसे पाँच-सात दिनमें वापस मिल जाये, ऐसी योजना करेंगे। मोरबीमें दूसरी उपाधिको दूर करनेके लिये यह ग्रंथपृच्छा की है। यहाँ कुशलता है।

३०३

ववाणिया, कार्तिक सुदी १३, शनि, १९४८

शुभोपमा योग्य श्री अंबालाल,

यहाँसे कार्तिक वदी ३ को निकलनेका विचार है। संभवतः मोरबीमें पाच-सात दिन लग जायेंगे। तथापि व्यावहारिक प्रसंग है इसलिये आपका आना योग्य नहीं है। आणंदमें समागमकी इच्छा रखिये। मोरबीकी निवृत्त करें।

और एक बात स्मरणमें रखनेके लिये लिखते हैं कि परमार्थप्रसंगसे अभी हमने प्रगटरूपसे किसीका भी समागम करना नहीं रखा है। ईश्वरेच्छा ऐसी लगती है।

सब भाइयोंको यथायोग्य। दिगंबर ग्रंथ मिले तो ठीक, नहीं तो कोई बात नहीं।

अप्रगट सत्।

(पत्र का शेष अंश पृष्ठ-१८ पर...)